International Journal of Multidisciplinary Education and Research
ISSN: 2455-4588; Impact Factor: RJIF 5.12
www.multieducationjournal.com
Volume 1; Issue 4; June 2016; Page No. 66-69

कर्मफलों का नियामक : ''ईश्वर''

विनय पटेल
शोधार्थी, अद्वैत वेदान्त दर्शन विभाग अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.) भारत।

सारांश
यह गहन विचार–विमर्श का प्रश्न है कि 'ईश्वर कर्मफलों का नियामक ईश्वर है अथवा नहीं।' कभी तो ऐसा होता है कि व्यक्ति कर्म तो करता है, किन्तु तदनुसार फल की प्राप्ति नहीं हो पाती है अथवा कर्मफल तत्काल न मिलकर बहुत समय के पश्चात् प्राप्त होते हैं। प्रकारान्तर से यह कह सकते है कि जब व्यक्ति चाहता है तब उसे उसके अनुकूल फलों की प्राप्ति नहीं हो पाती है, तब उसके मन में यह सामान्य अवधारणा उत्पन्न होती है कि कर्मफलों का नियन्ता व्यक्ति स्वयं नहीं हो सकता, अन्यथा जब वह चाहता तो यथेष्ट कर्मफलों की प्राप्ति कर लेता।
कर्मों पर व्यक्ति का अधिकार तो हो सकता है, किन्तु कर्म–फलों पर नहीं, यद्यपि कभी–कभी परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति कर्मों के लिये भी किंकर्तव्य– विमूढ़ हो जाता है। वह चाहकर भी किसी कर्म को संपादित करने में असमर्थ और असहाय हो जाता है। तब इस परिस्थिति में कर्मफल पर तो क्या? कर्मों पर भी व्यक्ति का अधिकार नहीं हो पाता है। अतः कोई न कोई ऐसी सत्ता अवश्यम्भावी है, जो कर्म और कर्मफलों पर नियन्त्रण और नियमन करती है। इसी अवधारणा के साथ ही कर्मफलों के नियामक सत्ता की खोज प्रारंभ होती है।

मूलशब्दः कर्मफल, नियामक, ईश्वर

प्रस्तावना
यह निर्विवाद सत्य है कि कर्मफलों की प्राप्ति तो कर्मों के अनुसार ही होती है। किन्तु उसका नियमन कौन और किस प्रकार से करता है? इस प्रश्न के साथ ही ईश्वर के कर्मफल नियामकत्व सम्बन्धी विचार तब विशेषतः उत्पन्न होते हैं, जब इस प्रकार की परिस्थिति आती है कि मनुष्य को कर्मों का अपेक्षित फल नहीं प्राप्त होता है अथवा उसे उसके कर्मों के अनुकूल जिन फलों की प्राप्ति होनी चाहिये थी, नहीं हो पाती है।
कर्मफल के नियामकत्व के विषय में प्रश्न तब भी उत्पन्न होता है जब इस मान्यता पर विचार करते हैं कि किया हुआ कर्म निष्फल नहीं जाता है, किन्तु सभी प्रयत्नों का फल बहुत काल बाद प्राप्त होता है और कभी–कभी अनायास ही ऐसे फलों की प्राप्ति भी हो जाती है, जिनके प्रति कोई विशेष प्रयत्न ही नहीं किये गये। कर्मफलों के नियामक की खोज का एक कारण और भी है, वह है– ''जड़–कर्म, चेतन के अभाव में फल प्रदान करने में असमर्थ हैं। यदि जड़–कर्म स्वतः ही कर्मों का फल प्रदान करने में समर्थ होते तो वे स्वयं ही एक दूसरे ईश्वर होते।''[1] इस प्रकार से अनेकविध प्रश्न ईश्वर के कर्मफल नियामकत्व सम्बन्धी तथ्यों की खोज की ओर प्रेरित करते हैं।
ईश्वर कर्मफलों का प्रदाता है अथवा कोई अन्य सत्ता अर्थात् स्वयं कर्म ही, इस तथ्य का विमर्श प्रायः समस्त दर्शनों में हुआ है। प्रायः समस्त आस्तिक दर्शनों ने कर्मफलों का नियामक परम चेतन 'ईश्वर' को माना है और ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि भी उन्होंने कर्मफल के सिद्धान्त के आधार पर की है। जैसा न्याय दर्शन कहता है कि– ''ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्''[2] अर्थात् जो पुरुष प्रयत्न करता है, उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वहीं उसके फल की प्राप्ति करे। इससे ज्ञात होता है कि फल पराधीन हैं और वह जिसके अधीन है वहीं ईश्वर है।
योग दर्शन के अन्तर्गत भी कर्म और कर्मफलों के विषय में भली–भाँति विचार किया गया है, क्योंकि पूरा योग दर्शन ही कर्मवाद की नींव पर स्थित है। यद्यपि योग दर्शन के प्रणेता आचार्य महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट रूप से 'ईश्वर को कर्मफलों के नियामक' के रूप में प्रतिपादित नहीं किया है, जैसा कि न्यायादि दर्शनों में किया गया है। किन्तु पातंजल योगसूत्रों पर गहन विमर्श करने पर और योग सूत्रों के भाष्यकारों और व्याख्याकारों के विचारों का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि कर्मफलों का नियामक स्पष्टतः ईश्वर ही है।
योग दर्शन में ''ईश्वर को क्लेश, कर्म/कर्मफलों से मुक्त पुरुष विशेष''[3] बतलाया गया है। वही ईश्वर, योग साधक अथवा सामान्य जन को सभी क्लेशों, कर्म/कर्मफलों से मुक्ति प्रदान करके असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा मोक्ष अथवा कैवल्य प्रदान करता है। कैवल्य प्रदान करके ही पुरुष विशेष (अर्थात् ईश्वर) सामान्य पुरुषों अर्थात् योगमार्गियों अथवा योगसाधकों के कर्मफलों का नियमन करता है और उनके कर्मफलों को समूल रूप से नष्ट कर देता है। इस दशा में साधक के समस्त संस्कार (कर्माशय अथवा कर्मफल) विनष्ट हो जाते हैं। इसी को योग दर्शन में निर्बीज अथवा असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है।[4]
महर्षि पतंजलि द्वारा दी गई असम्प्रज्ञात समाधि की परिभाषा– ''तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधन्निर्बीजः समाधिः'' (अर्थात् पर–वैराग्य द्वारा उस ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्य संस्कार के निरोध होने पर पुरातन और नवीन समस्त संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है) से भी यह स्पष्ट होता है कि निर्बीज समाधि की प्राप्ति तभी होती है, जब समस्त कर्मों और कर्मफलों का वैराग्य भावना द्वारा त्याग कर दिया जाता है।
यह स्वाभाविक तथ्य है कि जब योग दर्शन एक ओर यह कहता है कि 'ईश्वर प्रणिधान' आदि क्रिया योग का प्रयोजन ''समाधि भावना और क्लेशों के तनुकरण''[5] (अर्थात् कर्म और कर्मफलों से उत्पन्न क्लेशों की विनष्टता के लिये) का है तथा दूसरी ओर यह कहता है कि ''समाधि की प्राप्ति के पश्चात् क्लेश कर्मों से निवृत्ति''[6] हो जाती है, तब यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर ''योग साधक को समस्त क्लेश–कर्मों और कर्मफलों से मुक्ति प्रदान कर उसे विवेक ख्याति से सम्पन्न धर्म मेघ समाधि प्रदान करता है।''[7] यही साधक का कैवल्य (मोक्ष) है।
कैवल्य के विषय में महर्षि पतंजलि स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते है कि ''पुरुषार्थ से शून्य हुये गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में

अवस्थित होना कैवल्य है।''[8] इस योग सूत्र में महर्षि पतंजलि कहते हैं कि जब साधक को यह आभास हो जाता है कि वह किसी कर्म का कर्ता नहीं है और न ही वह किसी कर्मफल का भोक्ता है, अर्थात तब उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है। इससे भी यह स्वयं सिद्ध होता है कि ईश्वर कर्मफल का नियामक है।

सामान्य दृष्टांत में भी यह दृष्टिगोचर होता है कि मनुष्य का कर्मों पर तो अधिकार है किन्तु कर्मफलों पर नहीं। एक सामान्य मनुष्य अपने खेतों पर बीज वपन करता है। फसल भी उत्तम रीति से तैयार हो जाती है। किन्तु इसी अवधि में उस मनुष्य की मृत्यु हो जाती है और वह अपनी फसल का भोग करने के लिये इस संसार में नहीं है। तब फिर वह कृषि के रूप में किये गये अपने कर्मों के कर्मफल अर्थात् फसल का भोग कैसे कर पायेगा? इस दृष्टांत में निश्चित ही उसके कोई स्वजन अथवा अन्य जन ही उसके कर्मफल अर्थात् उसकी फसल का उपभोग करेंगे। इससे यह सहज ही प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य का कर्मफल पर अधिकार कदाचित् भी नहीं है।

किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर कर्मफलों का नियमन किस प्रकार करता है अथवा वह कर्मफलों का नियामक किस रूप में है? इस प्रश्न का समाधान प्रायः समस्त आस्तिक दर्शनों में प्राप्त होता है। इन दर्शनों में से योग दर्शन के अनुसार योग साधक के कर्मफलों की नियमन की उत्कृष्ट अवस्था तभी संभव हो पाती है, जब साधक अथवा योगमार्गी अपने समस्त कर्मों एवं कर्मफलों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि ईश्वर, व्यक्ति के कर्मफलों का नियमन करके मोक्ष या कैवल्य तभी प्रदान करता है, जब व्यक्ति निष्काम भाव से समस्त कार्यों को संपादित करता है।

इस तथ्य का प्रतिपादन महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगसूत्रों से स्वयमेव होता है। ''तपः स्वाध्यायईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः''[9] सूत्र में महर्षि पतंजलि कहते हैं कि 'ईश्वर प्रणिधान' क्रिया योग है और ''सभी क्रियाओं को परम गुरु ईश्वर में अर्पित करना अथवा उन कर्मों के फलों का संन्यास, ईश्वर प्रणिधान है।''[10] ''सभी क्रियाओं को ईश्वर में अर्पित कर देना या उनके फलों के प्रति निरपेक्ष रहना ईश्वर प्रणिधान है।''[11] किन्तु अब यहाँ प्रश्न यह है कि ईश्वर प्रणिधान अर्थात् क्रिया योग का आश्रय लेने का अभिप्राय क्या है? इसका समाधान करते हुये व्यास मुनि कहते हैं कि ''अतपस्वी को योग नहीं सिद्ध होता। अनादि कर्म और क्लेश की वासनाओं से भरी हुई तथा विषय जाल को उपस्थित करने वाली रजस्तमोमयी अशुद्धि बिना तप के (अथवा प्रकारान्तर से, क्रिया योग– तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के अभाव में) छिन्न–भिन्न नहीं होती और यह तप, चित्त की प्रसन्नता को बाधित न करने वाली स्थिति तक इस (साधक) के द्वारा की जानी चाहिये– ऐसा माना जाता है, शास्त्रों के द्वारा।''[12]

अब यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि क्रिया योग को अपनाने या उसका पालन करने से क्या लाभ होता है? इस विषय में व्यास मुनि का विचार है कि ''सुसम्पादित क्रिया योग समाधि भाव उत्पन्न करता है और क्लेशों को तनु या हल्का करता है। कालान्तर में तनु क्लेशों को सरलता से प्रसंख्यान (विवेकख्याति) की अग्नि से दग्ध बीजों के समान अंकुरोत्पादन (संस्कार रूप कार्योंत्पादन) में असमर्थ कर देगा। उनके तनु हो जाने (अर्थात् क्लेशों के शिथिल हो जाने पर) से, क्लेशों से पुनः संस्पृष्ट न होने वाली, विवेक ख्याति रूपिणी सूक्ष्म बुद्धि कृतकृत्य होकर अव्यक्त में लीन होने में समर्थ हो जायेगी।''[13] प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि ईश्वर प्रणिधान (अथवा क्रियायोग) योगमार्गियों के कर्मों और कर्मफलों का नियमन करके उनके लिये समाधि अथवा कैवल्य का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

इस प्रकार से योग दर्शन में 'ईश्वर' कर्मफलों का नियामक है जो योग साधक अथवा योगी को असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति कराता है। यही ईश्वर के द्वारा कर्मफलों का नियामकत्व है।

योगदर्शन के कर्मफल नियामकत्व सम्बन्धी समस्त तथ्यों एवं सिद्धान्तों की व्याख्या श्रीमद्भगवतगीता करती है, जिसमें योग और सांख्य का भली–भाँति विवेचन किया गया है। श्रीमद्भगवतगीता स्पष्टतः कर्मफल के नियामक के रूप में ईश्वर को प्रतिपादित करती है और यह बताती है कि ''कर्मों के अनुष्ठान में व्यक्ति का अधिकार है, कर्मों के फल में कदाचित् नहीं, अतः फल के अर्थ से कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जाना चाहिये और कर्महीनता में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये अर्थात् ईश्वर–समर्पण करके सदा निष्काम भाव से अपने कर्तव्यरूप शुभ कर्म करते रहना चाहिये।''[14] इसी प्रकार से कृष्ण अर्जुन को यह बतलाते हैं कि कर्मफल पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता है। व्यक्ति को केवल कर्म करने चाहिये और वह भी निष्काम भाव से। कर्मफलों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये उपाय बताते हुये कृष्ण कहते हैं कि ''हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मुझमें अर्पण करो।''[15] इस प्रकार की भावना से कर्म करने से अर्थात् ''जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान् के प्रति अर्पण होते हैं– ऐसे संन्यास योग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जायेगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।''[16]

इस प्रकार से श्रीमद्भगवतगीता यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करती है कि कर्मफलों का नियामक 'ईश्वर' है और मनुष्य अपने समस्त कर्मों को ईश्वर के प्रति संपादित करने तथा समस्त कर्मफलों को ईश्वरार्पण कर देने से मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्भगवतगीता का भाष्य करते हुये आचार्य शंकर कहते है कि ''तेरा कर्म में ही अधिकार है, ज्ञान निष्ठा में नहीं। वहाँ (अर्थात् कर्ममार्ग में) कर्म करते हुये तेरा फल में कभी अधिकार न हो, अर्थात् तुझे किसी भी अवस्था में कर्मफल की इच्छा नहीं होनी चाहिये।''[17]

विभिन्न आस्तिक दर्शन में भी कर्मफल के नियामक के रूप में 'ईश्वर' को ही स्वीकार किया गया है। इन दर्शनों में से एक न्याय दर्शन कर्म को संपादित करने की प्रवृत्ति अथवा योग्यता को 'अदृष्ट' (पुण्य–पाप) की संज्ञा प्रदान करता है और इसी अदृष्ट के द्वारा कर्मफलों का उदय होता है। किन्तु नैयायिकों का यह मत है कि यह अदृष्ट स्वयं जड़ पदार्थ है, उसमें कर्मफल प्रदान करने की योग्यता नहीं है। ''जिस चेतन की अध्यक्षता में जड़ अदृष्ट अपना कार्य करे वह परम ज्ञानी चेतन शक्ति ईश्वर ही है। ईश्वर अदृष्ट का नियन्ता है तथा उसके अनुसार वह हमारे सुख –दुःख, उन्नति–पतन और हर्ष–विषाद का सम्पादक है। इस प्रकार कर्मफल का दाता तथा अदृष्ट का नियन्ता होने से ईश्वर की सिद्धि होती है।''[18]

साथ ही न्याय दर्शन यह भी कहता है कि ''ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य –दर्शनात्''[19] अर्थात् जो पुरुष प्रयत्न करता है, उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वही उसके फल की प्राप्ति करे। इससे ज्ञात होता है कि कर्म फल पराधीन है और वह जिसके अधीन है वहीं ईश्वर है। इस शंका का यदि ''कर्म फल ईश्वराधीन है तो फिर पुरुष को बिना कर्म किये ही कर्म फल क्यों नहीं प्राप्त होता, बिना कर्म के उसे कर्म फल मिलना चाहिये''[20] समाधान करते हुये न्याय दर्शन कहता है– ''जब पुरुष प्रयत्न करता है तब यदि ईश्वर अनुग्रह करता है तो उसका फल प्राप्त होता है, यदि पुरुष के पुरुषार्थ के साथ ईश्वर का अनुग्रह न हो तो वह कर्म निष्फल जाता है।''[21] इस प्रकार से न्याय दर्शन न केवल ईश्वर को कर्म

फलों का नियामक मानता है, अपितु वह 'कर्म फलों के नियामक' के रूप में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये प्रमाण भी देता है। आस्तिक दर्शनों में ही मीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कर्मफल के नियामक के रूप में ईश्वर को ही बताया गया है। यद्यपि 'स्वर्गकामो यजेत्' अर्थात् स्वर्ग की कामना वाले व्यक्ति को यजन करना चाहिये आदि जैमिनी मुनि के कथन से यह आशय निकाला जाता है कि मीमांसा दर्शन कर्मवादी है और कर्म के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। किन्तु जब हम इस सामान्य अवधारणा पर विचार करते हैं कि कर्मफलों का नियन्ता व्यक्ति स्वयं नहीं हो सकता। कर्मों पर व्यक्ति का अधिकार तो हो सकता है, किन्तु कर्मफलों पर नहीं। इसका प्रमाण श्रुति वाक्यों में विशेषतः यजन मन्त्रों में प्रयुक्त क्रियात्मक पदों, यथा– यजेत्, जुहुयात आदि से प्राप्त होता है। वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त यजेत् आदि पद यह संकेत करते हैं कि हम किसी अन्य सत्ता के प्रति यजन कार्य संपादित करते हैं, जो हमें तदनुरूप फल भी प्रदान करेगी।

महर्षि जैमिनि का मत है कि ''क्रियात्मक भाव से युक्त अर्थवाले आख्यात पद कर्म का बोध कराने वाले हैं, उनसे क्रिया या कार्य यथा–याग, दानादि फल रूप के लिये कर्तव्य किये जाने की प्रतीति होती है। क्योंकि यह अर्थ अर्थातः उपयुक्त कर्म स्वरूप (अपूर्व) का भाव ही विधायित किया जाता है या धर्म बतलाया जाता है''[22] और यही अपूर्व अर्थात् धर्म रूपी कर्म आदि स्वर्गादि के प्रदाता हैं। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म रूपी कर्मों पर व्यक्ति का अधिकार है और फल का प्रदाता वही है जिसके प्रति यजन आदि धर्म कार्य संपादित किये जाते हैं। संभवतः महर्षि जैमिनि ने इसी प्रकार के तथ्य को मीमांसा सूत्र– ''धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत्''[23] अर्थात् धर्म या कर्म मात्र में प्रयाजवत् ही निवृत्त होना चाहिये, में संकेतित किया गया है।

अतएव मीमांसा दर्शन में कर्मफलों का नियामक ईश्वर है अथवा नहीं, इस पर विचार करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि निष्काम भाव से यज्ञादि कर्म करने पर स्वतः ही उत्तम कर्मफलों की प्राप्ति होती है और यजेत् आदि आख्यात् पदों से स्पष्ट होता है कि कहीं न कहीं कर्मफलों का नियमन ईश्वर ही करता है।

सांख्य दर्शन में ईश्वर, जिसे पुरुष कहा गया है, कर्मफलों का प्रदाता है अथवा नहीं अथवा कर्मफलों के प्रदाता स्वयं कर्म ही हैं, यह एक गंभीर विचार– विमर्श का प्रश्न है। सांख्य दर्शन में कर्मफलों का नियामक कौन है ? केवल कर्म ही कर्मफलों के नियामक नहीं हैं, क्योंकि ईश्वरकृष्ण का कथन है कि ''तीन प्रकार के दुःखों से प्राणी पीड़ित रहते हैं, अतः उस दुःख के अभिघातक कारण को जानने की इच्छा करनी चाहिये। दृष्ट उपायों अर्थात् कर्मों से ही उस जिज्ञासा की पूर्ति हो जायेगी ? नहीं, निश्चित रूप से और सदा के लिये दुःखों का अभाव नहीं होता।''[24] यदि कर्म ही कर्मफलों के नियन्ता होते तो दृष्ट उपायों अर्थात् कर्मों से ही दुःखों की निवृत्ति हो जाती या मोक्ष की प्राप्ति हो जाती, किन्तु ऐसा नहीं होता।

अतएव सांख्य दर्शन में कर्मफलों के नियामकत्व के विषय में सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि ''व्यक्त और अव्यक्त अथवा प्रकृति और पुरुष का ज्ञान''[25] ही श्रेयस्कर है अथवा मोक्ष का प्रदाता है अतः प्रकृति अथवा पुरुष ही कर्मफलों के नियन्ता हैं, किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि सांख्य का पुरुष प्रकृति का नियामक भी है अतएव वही कर्मफलों का नियामक भी है।

वेदान्त दर्शन के कर्मफल नियामक सत्ता की खोज करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि 'ईश्वर' (ब्रह्म) ही कर्मफलों का नियन्ता है। यदि ब्रह्मसूत्र ''जन्मद्यस्य यतः'' पर विचार करें तो पाते हैं कि जन्मादि कर्मों की प्रवृत्ति जहाँ से होती है वही 'ब्रह्म' है और इसी प्रकार से कर्मफलों की प्रवृत्ति भी उसी ब्रह्म से ही होती है। वहीं वेदान्त सूत्र ''श्रुतत्वाच्च''[26] से भी यह प्रमाणित होता है कि ईश्वर ही समस्त जगत्, समस्त कर्मों और समस्त कर्मफलों का कारण है। यह भी ध्यातव्य है कि 'श्रुतत्वाच्च' वेदान्त सूत्र का भाष्य करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं कि ''प्रधान–कारणता कहीं भी साक्षात् श्रुत नहीं, अपितु श्रुतियों में जगत्कारणीभूत पदार्थ में ईक्षणमात्र श्रुत है, वह भी सर्वविषयक नहीं। जगत्काणता का सामंजस्य करने के लिये ईक्षण में सर्व विषयत्व की कल्पना ही की जाती है, किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषत् में सर्वज्ञ ईश्वर का प्रकरण कह रहा है– 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'। वह सर्वज्ञ ईश्वर की जगत् का कारण, करणाधिपों का अन्तर्यामी है, इसका न तो कोई जनक है और न कोई संचालक, अतः सर्वज्ञ ईश्वर को छोड़कर प्रधानादि को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता है।''[27] इस आधार यह कहा जा सकता है कि कर्म और कर्मफलों का नियामक न होते हुये भी ईश्वर इन सबका नियन्ता है।

औपनिषदिक दर्शन अथवा उपनिषदों में कर्मफल के नियन्ता के रूप में आत्म–तत्त्व अर्थात् जीवात्मा को बताया गया है। कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है कि ''जो गुणों से सम्बद्ध, फलप्रद कर्म का कर्ता और उस किये हुये कर्म का उपभोग करने वाला है, वह विभिन्न रूपों वाला, तीन मार्गों से गमन करने वाला प्राणों का अधिष्ठाता अपने कर्मों के अनुसार गमन करता है।''[28]

साथ ही श्वेताश्वतरोपनिषद परब्रह्म परमात्म तत्त्व को भी सम्पूर्ण जगत्, कारण और कार्य का अधिष्ठाता बतलाते हुये कहता है कि ''जगत् का कारणभूत जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को निष्पन्न करता है, जो पाच्यों अर्थात् परिणाम योग्य पदार्थों को परिणत करता है, जो अकेला ही इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है और जो सत्त्वादि समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है, वह परब्रह्म है।''[29] इस प्रकार से औपनिषदिक् परम्परा में आत्म एवं परमात्म तत्त्वों को कर्मफलों का नियन्ता बतलाया गया है।

उपनिषदों में ही कर्मों को भी स्वयं कर्मफल का नियामक प्रतिपादित किया गया है। इस विषय में मुण्डकोपनिषद् कहता है, कि ''ऋषियों ने जिन कर्मों का मन्त्रों में साक्षात् किया था, वही यह सत्य है, त्रेता युग में उन कर्मों का विस्तार हुआ। सत्य अर्थात् कर्मफल की कामना से युक्त होकर उनका नित्य आचरण करो, लोक में यही तुम्हारे लिये सुकृत अर्थात् उत्तम कर्मफलों की प्राप्ति का मार्ग है।''[30] उत्तम कर्मफलों की प्राप्ति और अन्ततः कर्मफलों की निवृत्ति का उपाय भी उपनिषद् बताते हैं, कि ''इस लोक में कर्म करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिये इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे अशुभ कर्मों और कर्मफलों की प्राप्ति न हो।''[31]

उपनिषदों की इस प्रकार की विचारधारा का समर्थन करते हुये तथा ईश्वर में कर्तृत्व–भोक्तृत्व और कर्मफलों के नियामकत्व का निषेध करते हुये श्रीमद्भगवद् गीता कहती है, कि ''ईश्वर भूत–प्राणियों के न कर्तापन को और न कर्मों के फल के संयोग को निर्मित करता है, किन्तु परमात्मा के सान्निध्य से प्रकृति ही बर्तती है अर्थात् गुण ही गुणों में कार्य कर रहे हैं। सर्वव्यापी ईश्वर न किसी के पाप को और न किसी के शुभ कर्म को ग्रहण करता है। अविद्या के कारण ही व्यक्ति ईश्वर को कर्मफलों का नियन्ता मानता है, क्योंकि अविद्या से ज्ञान ढँका हुआ है, अतः इससे सब लोग मोहित हो रहे हैं।''[32] इस प्रकार से यहाँ पर श्रीमद्भगवतगीता प्रकृति को कर्मफल का नियन्ता स्वीकार करती है।

निष्कर्ष

कर्मफल के नियामक सत्ता के सम्बन्ध में प्रायः समस्त मतों का अनुशीलन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कुछ मतों के अनुसार कर्मफलों का नियामक 'ईश्वर' है, तो कुछ मतों के अनुसार 'प्रकृति' और कुछ मतों के अनुसार स्वयं कर्म ही कर्मफलों के नियामक हैं। योग दर्शन में इस विषय पर विचार करने पर यह अवधारणा स्पष्ट होती है कि 'ईश्वर' कर्मफलों का नियामक है जो योग साधक अथवा योगी को असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति कराता है और यही ईश्वर के द्वारा कर्मफलों का नियामकत्व है। साथ ही योग दर्शन यह भी स्पष्ट कर देता है कि ईश्वर का प्रणिधान करने से और निरन्तर चित्त –वृत्तियों के निरोध के अभ्यास से समस्त कर्मों, कर्मफल–जनित संस्कारों अथवा कर्माशयों से निवृत्ति हो जाती है तथा अन्ततः निर्विचार/निर्बीज/असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।

कर्मफलों के नियामकत्व के विषय में मेरा यह निष्कर्ष है कि चाहे कर्मफलों का नियामक 'ईश्वर' हो अथवा 'प्रकृति' हो अथवा स्वयं कर्म ही क्यों न हो, हमें निष्काम भाव अर्थात् कर्मफलों की त्याग–भावना को ग्रहण करके अपने समस्त कर्मों का संपादन करना चाहिये। जैसा ईशावास्योपनिषद् कहता है कि ''इस लोक में कर्म करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें, जिससे कि तुम्हें अशुभ कर्म का लेप न हो।''[33]

सन्दर्भ

1. पं. नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ, कर्मफल ईश्वराधीन, ईश्वरांक, गीता प्रेस गोरखपुर।
2. न्यादर्शन– 4/19।
3. पातंजल योगसूत्र– 1/24।
4. पातंजल योगसूत्र– 1/51।
5. पातंजल योगसूत्र– 2/2।
6. पातंजल योगसूत्र– 4/30।
7. पातंजल योगसूत्र– 4/29।
8. पातंजल योगसूत्र– 4/34।
9. पातंजल योगसूत्र– 2/1।
10. पातंजल योगसूत्र– 2/1 पर व्यास भाष्य।
11. राजमार्तण्डवृत्ति, पृष्ठ 29
12. पातंजल योगसूत्र– 2/1 पर व्यास भाष्य।
13. पातंजल योगसूत्र– 2/2 पर व्यासभाष्य।
14. श्रीमद्भगवतगीता– 2/47।
15. वही, 9/27।
16. श्रीमद्भगवतगीता– 9/28।
17. श्रीमद्भगवतगीता– 2/47 के शांकरभाष्य का हिन्दी अनुवाद।
18. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, भारतीय दर्शन पृ 205, 2001 संस्करण, शारदा मन्दिर प्रकाशन।
19. न्यायदर्शन– 4/19।
20. न्याय दर्शन– 4/20।
21. वही, 4/21।
22. मीमांसा सूत्र– 2/1/1।
23. मीमांसा सूत्र– 2/1/9।
24. सांख्यकारिका श्लोक संख्या– 1।
25. सांख्यकारिका, श्लोक– 2।
26. वेदान्त (ब्रह्मसूत्र) सूत्र– 1/1/11।
27. ब्रह्मसूत्र– 1/1/11 के शांकर भाष्य का हिन्दी अनुवाद।
28. श्वेताश्वतरोपनिषद्– 5/7।
29. श्वेताश्वतरोपनिषद्– 5/5।
30. मुण्डकोपनिषद्– 1/2/1।
31. ईशावास्योपनिषद्– 2।
32. श्रीमद्भगवतगीता– 5/14, 15
33. ईशावास्योपनिषद्– 2